



वीतराग-विज्ञान (जुलाई-मासिक) * 26 जून 2011 • वर्ष 27 • अंक 17

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे)

इसके बाद टीकाकार मुनिराज छह छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं ।
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति ॥
सोऽयं वंद्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा ।
तं वंदे सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥१५४॥

(हरिगीत)

जो आत्मा को स्वयं में अविचलनिलय ही देखता ।
वह आत्मा आनन्दमय शिवसंगी सुख भोगता ॥
संयतों से इन्द्र चक्री और विद्याधरों से ।
भी वंद्य गुणभंडार आत्मराम को वंदन करूँ ॥१५४॥

इसप्रकार जो आत्मा आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में अविचल आवासवाला देखता है; वह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्तिलक्ष्मी के विलासों को अल्पकाल में प्राप्त करता है। वह आत्मा देवताओं के इन्द्रों से, विद्याधरों से, भूमिगोचरियों और संयम धारण करनेवालों की पंक्तियों से वंदनीय होता है। सबके द्वारा वंदनीय, सम्पूर्ण गुणों के भंडार उस आत्मा को उसमें विद्यमान गुणों की अपेक्षा से, अभिलाषा से मैं वंदन करता हूँ।

इस छन्द का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इन्द्रियों से, मन से अथवा राग से देखने की बात नहीं कही। यहाँ तो यह कहा है कि जो अंतर्मुख होकर आत्मा को आत्मा में आत्मा से देखता है, वह अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्तिसुख को प्राप्त करता है। पर्याय के अवलम्बन से भी आत्मदर्शन नहीं होता; बल्कि अभेद आत्मा के अवलम्बन से आत्मा का अवलोकन होता है।

जो जीव अभेद आत्मा के अवलम्बन से आत्मा को देखता है, वह अल्पकाल में मुक्तिसुख प्राप्त करता है।

यहाँ मात्र आत्मा की ही बात है। जो जीव अन्तर्मुख होकर आत्मा की प्रतीति, आत्मा का वेदन और आत्मा का अनुभव करता है; वह शीघ्र मोक्ष सुख प्राप्त करता है - यही मोक्षसुख प्राप्त करने का उपाय है। मोक्षसुख त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से

प्रगट होता है, वर्तमान परिणाम के आश्रय से मोक्षसुख प्रगट नहीं होता।^१

वास्तविक धर्म तो अन्तर्मुख आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और स्मणता होने पर ही होता है। जो जीव ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेते हैं, वे अल्पकाल में मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं और मुनियों, देवेन्द्रों, विद्याधरों और राजाओं से वन्दनीय होते हैं।

- ऐसे उस सर्वव्यंघ सकल गुणनिधि आत्मा की मैं उसके गुणों की अपेक्षा से वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।^२

इस छन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। कहा गया है कि जो भगवान आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में ही रहनेवाला जानता है, देखता है; वह आत्मा अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति करता है, वहाँ प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोक्ता वह भगवान आत्मा इन्द्रों, नरेन्द्रों, विद्याधरों, भूमिगोचरी राजाओं; यहाँ तक कि संयमी सन्तों के संघों से भी पूजा जाता है। सभी से वंदित उन सिद्ध भगवान को मैं भी सिद्धों में प्राप्त होनेवाले गुणों को प्राप्त करने की अभिलाषा से वंदन करता हूँ॥१५४॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः ।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥१५५॥

(हरिगीत)

जगतजन के मन-वचन से अगोचर जो आत्मा ।
वह ज्ञानज्योति पापतम नाशक पुरातन आत्मा ॥
जो परम संयमिजनों के नित चित्त पंकज में बसे ।
उसकी कथा क्या करें क्या न करें हम नहीं जानते ॥१५५॥

जो पुराण पुरुष भगवान आत्मा उत्कृष्ट संयमी सन्तों के चित्तकमल में स्पष्ट है और जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापान्धकार के पुंज का नाश किया है; वह आत्मा संसारी जीवों के मन व वचन मार्ग से पार है, अगोचर है। इस अत्यन्त निकट परमपुरुष के संबंध में हम क्या विधि और क्या निषेध करें ?

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार सूर्य में अंधकार का अभाव है, उसीप्रकार चैतन्यसूर्य की ज्ञानज्योति

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९६

२. वही, पृष्ठ ८९७

में पुण्य-पापरूपी अंधकार का अभाव है; इसलिए चैतन्यसूर्य द्वारा पुण्य-पाप का नाश किया जाता है - ऐसा कहा है।^१

मूल सूत्र (गाथा १०९) में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समताभाव की बात की, जिसमें से पद्मप्रभमलधारिदेव सिद्ध करते हैं कि भगवान आत्मा में विधि-निषेध के विकल्प का क्या काम? क्योंकि विधि और निषेध के विकल्प विषमभाव हैं और ज्ञायकमूर्ति अनादि-अनन्त आत्मा समभावरूप है। जो ऐसे समभावस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है उसे 'यह करूँ' और 'यह छोड़ूँ' - ऐसे विधि-निषेधरूप राग-द्वेष नहीं होते।^२

इस छन्द में पुराण पुरुष भगवान आत्मा की स्तुति की गई है। कहा गया है कि वह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा सन्तों के चित्त कमल में अत्यन्त स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि संतगण उसके स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं। वह अपने ज्ञानस्वभाव से मोहान्धकार का नाशक है, अज्ञानी जनों के मन और वचन के जाल में नहीं आता, उनके लिए अगोचर है।

इसप्रकार अत्यन्त निकटवर्ती परमपुरुष निजात्मा के बारे में हम क्या कहें, क्या न कहें; कुछ समझ में नहीं आता; क्योंकि वह विधि-निषेध के विकल्पों से पार है। तात्पर्य यह है कि वह कैसा है और कैसा नहीं है; यह वाणी से कहे जाने योग्य नहीं है; अपितु अनुभवगम्य है।

इस छन्द के बाद टीकाकार मुनिराज एक पंक्ति लिखते हैं, जिसका भाव यह है-

“इसप्रकार इस पद्य के द्वारा परमजिनयोगीश्वर ने एकप्रकार से व्यवहार आलोचना के विस्तार का उपहास किया है, हँसी उड़ाई है, निरर्थकता बताई है।”

इस पंक्ति का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इसप्रकार इस पद्य द्वारा परम जिनयोगीश्वर ने वास्तव में व्यवहार-आलोचना के प्रपंच का उपहास किया है। अरे ! चैतन्य के आँगन में शुभविकल्पों का क्या काम? हमें तो परमार्थ स्वरूप चैतन्य के आश्रय में ही विशुद्धता होती है; इसलिए वही परमार्थ आलोचन है।

मूल सूत्र में निश्चय आलोचन का स्वरूप कहकर ऐसा कहा कि हे शिष्य! तू परम जिननाथ के उपदेश द्वारा निश्चय आलोचन के स्वरूप को जान। इसमें से टीकाकार आचार्य ने यह अर्थ निकाला कि अहो! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने चैतन्य के अवलोकन को ही आलोचन कहा है और व्यवहार आलोचन के विकल्पों की उपेक्षा की है।^३

अज्ञानी कहता है कि अरे! तुम व्यवहार को ढीला करके उसकी उपेक्षा करते हो

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९८

२. वही, पृष्ठ ८९९

३. वही, पृष्ठ ८९९-९००

और निश्चय का आदर करते हो, परन्तु भाई! यह तो आचार्य भगवान का कथन है। निश्चय स्वभाव के अवलम्बन से ही संवर होता है - व्यवहार और विकल्पों से नहीं, - ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।^१

ऐसा कहकर व्यवहार आलोचनरूप विधि-निषेध के विकल्पों का निषेध किया है। व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर उनके अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।^२

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि आत्मावलोकन (आत्मानुभव) रूप निश्चय आलोचना में सब कुछ समाहित है; क्योंकि मोक्ष का हेतु तो वही है, व्यवहार आलोचना तो शुभभावरूप होने से बंध का ही कारण है। अतः वह उपेक्षा करने योग्य ही है ॥१५५॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है -

(पृथ्वी)

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥१५६॥

(हरिगीत)

इन्द्रियरव से मुक्त अर अज्ञानियों से दूर है ।
अर नय-अनय से दूर फिर भी योगियों को गम्य है ॥
सदा मंगलमय सदा उत्कृष्ट आत्मतत्त्व जो ।
वह पापभावों से रहित चेतन सदा जयवंत है ॥१५६॥

अज्ञानियों से अत्यन्त दूर, सभी इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न कोलाहल से विमुक्त, सदा शिवमय जो उत्कृष्ट आत्मतत्त्व है; वह नय-अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों से गोचर है। पापों से रहित चैतन्यमय वह सहजात्मतत्त्व अत्यन्त जयवंत है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“चैतन्यमय सहज शुद्धात्मतत्त्व जड़ द्रव्येन्द्रियों से तो भिन्न है ही, अन्तरंग में खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियों से उत्पन्न संकल्प-विकल्परूप कोलाहल से भी रहित है। इन्द्रियों के ऊपर लक्ष्य करने से विकल्पों का कोलाहल उत्पन्न होता है, अन्तर्मुख चैतन्य वस्तु में इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाली अशान्ति नहीं है अर्थात् चैतन्य के अवलम्बन में ही शान्ति की उत्पत्ति और अशान्ति का अभाव होता है - इसका नाम धर्म है।

चैतन्य के ज्ञानदर्शनोपयोग का व्यापार बाह्य इन्द्रियविषयों में होता है, वह

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९००

२. वही, पृष्ठ ९००

अशान्तिरूप है, चाहे वह शुभरूप हो अथवा अशुभरूप; क्योंकि भगवान आत्मा तो शुभ-अशुभभाव के विकल्पों से रहित सदा ध्रुवत्वरूप से जयवन्त वर्तता है। ऐसे ध्रुवत्वरूप चैतन्य के अवलम्बन से ही धर्म प्रकट होता है।^१

जिसप्रकार लेंडीपीपर बहुत काल तक रखी रहे, तो भी उसकी चौसठपुटी तिखास की शक्ति ज्यों की त्यों रहती है, नाश नहीं होती; उसीप्रकार आत्मा पूर्व में अनन्तबार नरक-निगोद में रखड़ा, तो भी अभी ज्यों का त्यों पूर्ण जयवन्त वर्तता है। त्रिकाली शक्ति अभी भी अपनी सम्पूर्ण शक्तिपने विद्यमान है और मुनिराजों को अन्तरंग में उस परिपूर्ण चिदानंद शक्ति का अनुभव होता है; इसलिए कहते हैं कि अहो? यह सहजतत्त्व अत्यन्त जयवन्त वर्तता है।

ऐसे सहजतत्त्व की दृष्टि और महिमा करके उसमें स्थिर होना ही आलोचन और संवर है।^२

इस छन्द में चैतन्यमय सहजतत्त्व के जयवंत होने की घोषणा की गई है। कहा गया है कि अज्ञानियों की पकड़ से अत्यन्त दूर, इन्द्रियों के कोलाहल से मुक्त और नय-अनय के विकल्पजाल में न आने पर भी योगियों के अनुभवज्ञान में सदा विद्यमान यह अनघ चिन्मय सहजतत्त्व सदा जयवंत वर्तता है ॥१५६॥

चौथा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमञ्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति ।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ॥१५७॥

(हरिगीत)

श्रीपरमगुरुओं की कृपा से भव्यजन इस लोक में।
निज सुख सुधासागर निमज्जित आत्मा को जानकर ॥
नित प्राप्त करते सहजसुख निर्भेद दृष्टिवन्त हो।
उस अपूरब तत्त्व को मैं भा रहा अति प्रीति से ॥१५७॥

निजात्मा के आश्रय से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के सागर में डुबकी लगाते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्यजीव परमगुरु के सहयोग से शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न सुख से शुद्ध है - ऐसे सहज तत्त्व को मैं भी अत्यपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०२

२. वही, पृष्ठ ९०४

“परमगुरु से प्रसाद से और स्वयं की पात्रता से भव्यजीव सहज शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करके, उसमें ही स्थिर होकर मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं। वह सहजतत्त्व ही परम उपादेय है। इसलिए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारि देव कहते हैं कि ‘भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि हुई है, उससे उत्पन्न सौख्य के द्वारा जो शुद्ध है - ऐसे किसी अद्भुत सहजतत्त्व को मैं सदा अति अपूर्व रीति से भाता हूँ।’

देखो, मुनियों की ऐसी भावना होती है। जिसे व्यवहार की, भेद की भावना होती है तथा उसके आश्रय में सुख दिखाई देता है, उसे मोक्ष सुख प्राप्त नहीं होता, और जो भव्यजीव शुद्धात्मा को जानकर उसकी भेदरहित भावना करते हैं, उसमें ही एकाग्र होते हैं; वे जीव मुक्ति सुख प्राप्त करते हैं।”

इस छन्द में सहजतत्त्व अर्थात् निज शुद्धात्मा की भावना भाई गई है। कहा गया है कि आनन्द के कन्द, ज्ञान के घनपिण्ड निज शुद्धात्मा के ज्ञान, श्रद्धान एवं अनुष्ठान से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं उक्त सहजतत्त्व की अनुभूति करने की भावना भाता हूँ, कामना करता हूँ॥१५७॥

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

निर्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं

निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम् ।

संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं

निर्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय ॥१५८॥

(हरिगीत)

सब ग्रन्थ से निर्ग्रन्थ शुध परभावदल से मुक्त है।

निर्मोह है निष्पाप है वह परम आत्मतत्त्व है॥

निर्वाणवनिताजन्यसुख को प्राप्त करने के लिए।

उस तत्त्व को करता नमन नित भावना भी उसी की॥१५८॥

सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त, निर्मोहरूप, पापों से रहित और परभावों से मुक्त परमात्मतत्त्व को; मुक्तिरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति के लिए नित्य नमन करता हूँ, सम्भावना करता हूँ, सम्यक् रूप से भाता हूँ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“चैतन्य शुद्धात्मतत्त्व, समस्त परद्रव्यों के संग से रहित असंग है; उसमें किसी परद्रव्य का संग नहीं है। तथा वह किसी परद्रव्य के संयोग से प्राप्त नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरु का संग भी चैतन्य वस्तु में नहीं है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०६

स्वरूप की सावधानी के अलावा किसी भी परद्रव्य की सावधानी करना मोह है, और चैतन्यस्वभाव मोह से रहित निर्मोह है।

समस्त पुण्य-पाप से पार तथा समस्त परभावों से मुक्त (रहित) - ऐसे परमात्मतत्त्व की भावना ही मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख की कारण है। इसलिये मैं अशरीरी सुख के लिए सदा सम्यक्पने परमात्मतत्त्व को भाता हूँ, प्रणाम करता हूँ और उसमें ही स्थिर होता हूँ।^१”

इस छन्द में मुक्ति प्राप्त करने की भावना से परमात्मतत्त्व की संभावना की गई है, उसे नमन किया गया है। कहा गया है कि अंतरंग और बहिरंग - सभी २४ परिग्रहों से मुक्त, पापभावों से रहित, परभावों से भिन्न, निर्मोही परमात्मतत्त्व को; शिवरमणी के रमण से प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द की भावना से नमन करता हूँ और उनकी भली प्रकार संभावना करता हूँ ॥१५८॥

छठवाँ छन्द इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं

चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि ।

संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं

निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ॥१५९॥

(हरिगीत)

भिन्न जो निजभाव से उन विभावों को छोड़कर।

मैं करूँ नित चिन्मात्र निर्मल आत्मा की भावना ॥

कर जोड़कर मैं नमन करता मुक्ति मार्ग को सदा।

इस दुखमयी भव-उदधि से बस पार पाने के लिए ॥१५९॥

निजभाव से भिन्न सभीप्रकार के विभाव भावों को छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्र भाव को भाता हूँ। संसार सागर से पार उतरने के लिए जिनागम में भेद से रहित कहे गये मुक्तिमार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पहले अभेद आत्मतत्त्व को नमस्कार किया और अब उसके आश्रय से प्रगट होनेवाले वीतराग मुक्तिमार्ग को नमस्कार करता हूँ। इसके अलावा रागादि को या भेद की भावना को थोड़ा भी नमस्कार नहीं करता अर्थात् उन्हें किंचित् भी उपादेय नहीं मानता।^२”

इस छन्द में निजभावरूप चिन्मात्रभाव की भावनापूर्वक मुक्तिमार्ग को नमन

किया गया है। कहा गया है कि मैं निजभाव से भिन्न सभीप्रकार के विभावभावों से रहित निर्मल चिन्मात्रभाव की भावना भाता हूँ और संसारसागर से पार उतरने के लिए अभेदरूप मुक्तिमार्ग को बारंबार नमन करता हूँ॥१५९॥

नियमसार गाथा ११०

विगत गाथा में परम-आलोचना के प्रथम भेद आलोचन की चर्चा की गई और अब इस गाथा में परम-आलोचना के दूसरे भेद आलुंछन की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।

साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्धिट्ठं॥११०॥

(हरिगीत)

कर्मतरु का मूल छेदक जीव का परिणाम जो ।

समभाव है बस इसलिए ही उसे आलुंछन कहा॥११०॥

कर्मरूपी वृक्ष के मूल (जड़) को छेदने में समर्थ समभावरूप परिणाम को आलुंछन कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह परमभाव के स्वरूप का कथन है।

भव्यजीवों का परमपारिणामिकभावरूप स्वभाव होने से जो परम-स्वभाव है; वह परमस्वभाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों से अगोचर होने से पंचमभाव कहा जाता है। वह पंचमभाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम - इन विविध विकारों से रहित है। इसकारण से इस एक पंचमभाव को ही परमपना है, शेष चार विभावभाव अपरमभाव हैं।

समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को मूल से उखाड़ देने में समर्थ वह परमभाव; त्रिकाल निरावरण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप की श्रद्धा से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) तीव्र मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण कुदृष्टियों को, सदा विद्यमान होने पर भी निश्चयनय से अविद्यमान ही है।

नित्यनिगोद के जीवों को भी, वह परमभाव शुद्धनिश्चयनय से अभव्यत्व-पारिणामिक नाम से संभव नहीं है।

जिसप्रकार सुमेरु पर्वत के अधोभाग में स्थित सुवर्णराशि को भी स्वर्णपना है; उसीप्रकार अभव्यों को भी परमस्वभावपना है। ध्यान रहे वह परमस्वभाव वस्तुनिष्ठ है, व्यवहारयोग्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार सुमेरु की तलहटी में विद्यमान सोना यद्यपि विद्यमान है, तथापि वह कभी उपयोग में नहीं लाया जा सकता; उसीप्रकार यद्यपि

अभव्य के भी परमस्वभाव विद्यमान है; तथापि उसके आश्रय से पर्याय में मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।

सुदृष्टियों को अर्थात् अति आसन्न भव्यजीवों को यह परमस्वभाव सदा निरंजनपने के कारण अर्थात् निरंजनरूप से प्रतिभासित होने के कारण सफल हुआ है; इसकारण इस परमपंचमभाव द्वारा अति-आसन्न भव्यजीव को निश्चय परम-आलोचना के भेदरूप उत्पन्न होनेवाला आलुंछन नाम सिद्ध होता है; क्योंकि वह परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम विषवृक्ष के विशाल मूल (मोटी जड़) को उखाड़ देने में समर्थ है।”

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“परमशुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से समस्त विकारी भावों को उखाड़ फेंकने का नाम आलुंछन है।

आत्मा में एकाग्रता करना धर्म है। इसलिए जिन्हें धर्म करना हो, उन्हें निजात्मा में एकाग्रता करनी चाहिए। आत्मा में एकाग्र होने का गुण तो है, पर वह अनादिकाल से पर में एकाग्र हो रहा है, अपनी विपरीत मान्यता के कारण पुण्य-पाप में एकाग्र हो रहा है।

आत्मस्वभाव में एकाग्र होने के लिए उसके परमपारिणामिक भाव का यथार्थ स्वरूप बताते हैं। यह गाथा बहुत ही अलौकिक है। इसमें त्रिकालीध्रुव परम-पारिणामिकभाव की अलौकिक महिमा बताई है।^१

इस गाथा में त्रिकालीध्रुव आत्मा का ही परमभाव के रूप में वर्णन किया है। जिसमें अनन्त गुणों की निर्मलता प्रगट करने की शक्ति त्रिकाल होती है, उसे परमभाव कहते हैं और उसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है।^२

समयसार में जिसे ज्ञायकभाव कहा है, उसे ही यहाँ परमपारिणामिक भाव कहा है। परमपारिणामिक भाव त्रिकाली स्वभाव है, ध्रुवरूप रहनेवाला भाव है, सदा एकरूप रहनेवाला भाव है।^३

कर्मवृक्ष की जड़ उखाड़ना पर्याय है, लेकिन वह पर्याय परमस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती है, इसलिए परमस्वभाव को ही कर्मरूपी वृक्ष की जड़ उखाड़नेवाला कहा है। वास्तव में परमस्वभाव में कर्म का त्रिकाल अभाव ही है।^४

समस्त जीवों को यह परमस्वभाव निश्चय से विद्यमान होते हुए भी, जिसे इसका भान नहीं है - ऐसे कुदृष्टि मिथ्यादृष्टि को तो अविद्यमान ही है।^५

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९११

२. वही, पृष्ठ ९१३

३. वही, पृष्ठ ९१४

४. वही, पृष्ठ ९१६

५. वही, पृष्ठ ९१७

जब पर्याय अन्तर्मुख होकर परमात्मतत्त्व का आश्रय करती है, तब आसन्नभव्यजीव के पुण्य-पापरूप विकार की जड़ें उखड़ जाती हैं। इसका नाम आलुंछन है। स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष-मोह की जड़ें उखाड़ फेंकने का नाम आलुंछन है और यही संवर है।

शरीरादि और पुण्य-पाप तो दूरवर्ती बाह्यतत्त्व हैं और संवर-निर्जरारूप निर्मल पर्याय निकटवर्ती बाह्यतत्त्व हैं।

संवर-निर्जरा आत्मा की शुद्धपर्यायें हैं, फिर भी त्रिकाली शक्ति की अपेक्षा इन प्रगट पर्यायों को बाह्यतत्त्व कहा है। त्रिकाली ध्रुवशक्ति अन्तःतत्त्व है और उसके आश्रय से प्रगट हुई निर्मलपर्याय बाह्यतत्त्व है; क्योंकि पर्याय के आश्रय से निर्मलता या धर्म नहीं होता। त्रिकाली ध्रुव अंतस्तत्त्व परमपारिणामिकभाव त्रिकाल सिद्ध स्वरूप है। उसके ही आश्रय से आसन्नभव्यजीव को निश्चय आलोचना उत्पन्न होती है।

यह आलुंछन निश्चय परम-आलोचना का प्रकार है, वीतरागी भाव है। यह निर्मलपर्यायरूप बाह्यतत्त्व परलक्ष्य करने से प्रगट नहीं होता, यह तो अंतरंगस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है।^१

समस्त कर्म विषम विषवृक्ष है। पाप तो विषम विष है ही, परन्तु पुण्य भाव भी विषम विष का झाड़ है। उस विषवृक्ष की जड़ मिथ्यात्व है।

परमपारिणामिकस्वभाव का आश्रय करने पर ही इस विषवृक्ष की जड़ें उखड़ती हैं। चैतन्यस्वरूप सहज परमभाव चौरासी के जनम-मरण के विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंकता है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे परमभाव की दृष्टि होती है, उसे पर्यायबुद्धि नहीं होती।^२”

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यह बताया गया है कि परम-पारिणामिकभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ आत्मावलोकन (आत्मानुभूति) रूप पर्याय ही आलुंछन नामक आलोचना है। यह निश्चय आलुंछनरूप आलोचना का स्वरूप है।

परमपारिणामिकभावरूप परमभाव पुण्य-पापरूप समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में समर्थ है।

यद्यपि यह परमभाव मिथ्यादृष्टियों के भी विद्यमान है; तथापि अविद्यमान जैसा ही है; क्योंकि उसके होने का लाभ उन्हें प्राप्त नहीं होता।

इस बात को यहाँ सुमेरु पर्वत की तलहटी में विद्यमान स्वर्णराशि के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। विद्यमान होने पर भी जिसप्रकार उक्त स्वर्ण का उपयोग संभव नहीं है; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टियों के लिए उक्त परमभाव का उपयोग संभव नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि नित्यनिगोद के जीवों को भी, वह परमभाव शुद्ध

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२१-९२२

२. वही, पृष्ठ ९२२

निश्चयनय से अभव्यत्वपारिणामिकभाव नाम से संभव नहीं है - टीका में समागत इस कथन का भाव ख्याल में नहीं आया।

इस प्रकरण का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“निश्चय की दृष्टि से तो समस्त जीवों का परमस्वभाव ज्यों का त्यों त्रिकाल एकरूप ही है, शुद्धनिश्चयनय से वह परमपारिणामिकभाव नित्यनिगोद के जीवों के भी पाया जाता है; क्योंकि शुद्धनिश्चय में तो समस्त जीवों को परमस्वभाव ही है। अभव्यत्वपारिणामिकभाव व्यवहार नय का विषय है। अभव्यजीव के मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। - यह भी शुद्धनिश्चयनय में लागू नहीं पड़ता, शुद्ध निश्चयनय से तो समस्त जीव परमपारिणामिकभाव स्वरूप ही है।”

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि परमभाव सभी जीवों के पाया जाता है और वह परमभाव परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसकारण परमशुद्धनिश्चयनय से व्यवहारनय के विषयभूत अभव्यत्व-पारिणामिकभाव को परमभाव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अभव्यत्व-रूप पारिणामिकभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति संभव नहीं है ॥११०॥

इसके बाद टीकाकार दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -
(मंदाक्रांता)

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मारतिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः ।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥१६०॥
(हरिगीत)

हैं आत्मनिष्ठा परायण जो मूल उनकी मुक्ति का।
जो सहजवस्थारूप पुण्य-पाप एकाकार है॥
जो शुद्ध है नित शुद्ध एवं स्वरस से भरपूर है।
जयवंत पंचमभाव वह जो आत्मा का नूर है॥१६०॥

जो कर्म से दूरी के कारण प्रगट सहजावस्थारूप विद्यमान है, आत्मनिष्ठ सभी मुनिराजों की मुक्ति का मूल है, एकाकार है, निजरस के विस्तार से भरपूर होने के कारण पवित्र है, सनातन पुराण पुरुष है; वह शुद्ध-शुद्ध एक पंचमभाव सदा जयवंत है।

इस छंद का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“आसन्नभव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपने परमशुद्ध कारणपरमात्मा के आश्रय से संसार के मूल (जड़) को उखाड़ डालता है, इसका नाम ही आलुंछन है और यह निश्चय आलोचना का एक प्रकार है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९१७-९१८

अनादि संसार से जीव ने एक क्षण मात्र भी ऐसी आलोचना नहीं की है; क्योंकि ऐसी आलोचना करनेवाले को शुद्धभाव प्रगट होकर मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। निश्चय आलोचना कहो, संवर कहो, धर्म कहो - यह अनादिकाल से प्रगट क्यों नहीं हुआ और अब कैसे प्रगट होगा? - यह दोनों बातें इस छन्द में बताई गई हैं।^१”

इस छन्द में सदा जयवन्त पंचमभाव का माहात्म्य बताया गया है। कहा गया है कि यह परमपारिणामिकभावरूप पंचमभाव आत्मनिष्ठ मुनिराजों की मुक्ति का मूल है, परमपवित्र है, एकाकार है, अनादि-अनन्त सनातन सत्य है। ऐसा यह एक शुद्ध-शुद्ध पंचमपरमभाव सदा जयवन्त है।

ध्यान रहे यहाँ परमपंचमभाव की शुद्धता पर विशेष वजन डालने के लिए शुद्ध पद का प्रयोग दो बार किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह परमभाव स्वभाव से तो शुद्ध है ही, पर्याय की शुद्धता का भी एकमात्र आश्रयभूत कारण है ॥१६०॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आसंसारादखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा ।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुम्भमंडलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ॥१६१॥

(हरिगीत)

इस जगतजन की ज्ञानज्योति अरे काल अनादि से।
रे मोहवश मदमत्त एवं मूढ है निजकार्य में ॥
निर्मोह तो वह ज्ञानज्योति प्राप्त कर शुद्धभाव को।
उज्ज्वल करे सब ओर से तब सहजवस्था प्राप्त हो ॥१६१॥

अनादि संसार से समस्त जनसमूह की तीव्र मोह के उदय के कारण जो ज्ञानज्योति निरंतर मत्त है, काम के वश है और निजकार्य में विशेषरूप से मुग्ध है, मूढ है; वही ज्ञानज्योति मोह के अभाव से उस शुद्धभाव को प्राप्त करती है कि जिस शुद्धभाव ने सभी दिशाओं को उज्ज्वल किया है और सहजावस्था प्राप्त की है।

उक्त छन्द के भाव को गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अपने शुद्ध स्वभाव का भान होते ही मोह का अभाव होकर ज्ञानज्योति शुद्धभाव को प्राप्त करती है। जो पहले काम के वश थी, अब उसके बदले वही ज्ञानज्योति शुद्धभाव से दिशामंडल को प्रकाशित करती है अर्थात् वह ज्ञानज्योति चारों तरफ से उज्ज्वल हो गई है, सहज अवस्था को प्रगट हो गई है। ऐसी ज्ञानज्योति का प्रगट होना ही धर्म है, संवर है, आलोचना है।^२”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२३-९२४

२. वही, पृष्ठ ९२४

उक्त छन्द में ज्ञानज्योति की महिमा बताई गई है। कहा गया है कि मोह के सद्भाव में अनादिकाल से समस्त संसारीजीवों की जो ज्ञानज्योति मत्त हो रही थी, काम के वश हो रही थी; वही ज्योति मोह के अभाव में शुद्धभाव को प्रगट करती हुई सभी दिशाओं को उज्ज्वल करती है और सहजावस्था को प्राप्त करती है। ज्ञानज्योति का सम्यग्ज्ञान के रूप स्फुरायमान होना ही आलुंछन है, आलुंछन नाम की आलोचना है, निश्चय आलोचना है ॥१६१॥

नियमसार गाथा १११

विगत दो गाथाओं में परमालोचना के आरंभिक दो भेद आलोचन एवं आलुंछन की क्रमशः चर्चा की। अब इस गाथा में तीसरे भेद अविकृतिकरण की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।

मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं ति विण्णेयं ॥१११॥

(हरिगीत)

निर्मलगुणों का निलय आत्म कर्म से भिन्न जीव को।

भाता सदा जो आत्मा अविकृतिकरण वह जानना ॥१११॥

जो मध्यस्थभावना में कर्म से भिन्न, विमलगुणों के आवासरूप अपने आत्मा को भाता है; उस जीव को अविकृतिकरण जानना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष का कथन है।

पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान जो जीव; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न; सहजगुणों के आवास निज आत्मा को माध्यस्थभाव से भाता है; उस जीव को अविकृतिकरण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता ही है।”

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मद्रव्य द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित सहज गुणों का निधान है। जो जीव उसका ध्यान करता है, उसके विकार का नाश होकर सहज गुण प्रगट होते हैं। सर्वप्रथम यह बात सुनकर इसका विचार और धारणा करके बार-बार इसी का चिंतन होना चाहिए, पश्चात् अन्दर में उसका परिणामन होते ही अविकारी दशा प्रगट होती है। जो पर्याय चैतन्यस्वरूप आत्मा को विषय बनाती है, उस पर्याय को परम आलोचना होती है।”

परम-आलोचना के अविकृतिकरण नामक भेद की चर्चा करनेवाली इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि पापरूपी भयानक जंगल को जलाने में

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२७

समर्थ यह आत्मा; जब द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न एवं सहज गुणों के आवास इस भगवान आत्मा को मध्यस्थ भाव से भाता है, उसकी आराधना करता है; तब वह आराधक आत्मा अविकृतिकरणस्वरूप ही है - ऐसा जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि उक्त आत्मा अविकृतिकरण नामक आलोचना करनेवाला है, परमालोचक है ॥१११॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज नौ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहला और दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे-
रन्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ॥१६२॥

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो-
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहः कलंकः ।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ॥१६३॥

(हरिगीत)

अरे अन्तःशुद्ध शम-दमगुणकमलनी हंस जो ।
आनन्द गुण भरपूर कर्मों से सदा है भिन्न जो ॥
चैतन्यमूर्ति अनूप नित छोड़े न ज्ञानस्वभाव को ।
वह आत्मा न ग्रहे किंचित् किसी भी परभाव को ॥१६२॥
अरे निर्मलभाव अमृत उदधि में डुबकी लगा ।
धीये हैं पापकलंक एवं शान्त कोलाहल किया ॥
इन्द्रियों से जन्य अक्षय अलख गुणमय आत्मा ।
रे स्वयं अन्तर्ज्योति से तम नाश जगमग हो रहा ॥१६३॥

द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से सदा भिन्न, अन्तःशुद्ध, शम-दम आदि गुण रूपी कमलनियों का राजहंस, नित्यानंदादि अनुपम गुणोंवाला और चैतन्यचमत्कार की मूर्ति - ऐसा यह आत्मा मोह के अभाव के कारण सभी प्रकार के सभी परभावों को ग्रहण ही नहीं करता ।

जिसने अत्यन्त निर्मल शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को धो डाला है और इन्द्रियसमूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है तथा जो अक्षय अन्तरंग गुण मणियों का समूह है; वह शुद्ध आत्मा ज्ञान ज्योति द्वारा अंधकारदशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है ।

(क्रमशः)

